

Airo International Research Journal

Volume XIV, ISSN: 2320-3714

March, 2018

Impact Factor 0.75 to 3.19



UGC Approval Number 63012

A Multidisciplinary Indexed International Research Journal



**ISSN : 2320-3714**

**Volume : XIV**

**Journal : 63012**

**Impact Factor : 0.75 to 3.19**



ADHYAYAN  
INTERNATIONAL  
RESEARCH  
ORGANISATION

# कृषि विकास एवं तकनीकी कारक

डॉ० धर्मेन्द्र पाण्डेय

प्रवक्ता, भूगोल विभाग

सी०जी०एन० (पी०जी०) कॉलेज

गोला गोकर्णनाथ – खीरी

**Declaration of Author:** I hereby declare that the content of this research paper has been truly made by me including the title of the research paper/research article, and no serial sequence of any sentence has been copied through internet or any other source except references or some unavoidable essential or technical terms. In case of finding any patent or copy right content of any source or other author in my paper/article, I shall always be responsible for further clarification or any legal issues. For sole right content of different author or different source, which was unintentionally or intentionally used in this research paper shall immediately be removed from this journal and I shall be accountable for any further legal issues, and there will be no responsibility of Journal in any matter. If anyone has some issue related to the content of this research paper's copied or plagiarism content he/she may contact on my above mentioned email ID.

किसी भी प्रदेश में अनेक कारक अन्तर्सम्बन्धित एवं संचयी रूप में उस प्रदेश को कृषि विशिष्टता प्रदान करते हैं तथा इन्हीं आधारों पर कृषिगत दशाओं में समरूपता तथा अनेकरूपता मिलती है। प्रकृति ने भूमि को स्वाभाविक उर्वरता तो प्रदान की है परन्तु उसकी उत्पादन की एक स्वाभाविक क्षमता है। यदि इस क्षमता में वृद्धि हो तो कृत्रिम साधनों का सहारा लेना पड़ता है। इन साधनों में उर्वरक, उत्तम बीज, सिंचाई सुविधाएँ, कृषि मशीनरी आदि शामिल हैं।

जब संसार के विभिन्न क्षेत्रों में कृषि का प्रादुर्भाव हुआ था तब भारत उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में सिंधु घाटी में, मिश्र घाटी की सभ्यता के समकालीन ही कृषि का

विकास मिश्र घाटी की सभ्यता के समकालीन ही कृषि का विकास हो रहा था। अतः कृषि का विकास अति प्राचीन काल में हुआ है। लेकिन यह विकास जिसकी झलक आज भी भारतीय गाँवों में देखने में मिलती है, धीमी तथा विभिन्न चरणों से गुजरी है। अतः भौतिक एवं मानवीय वातावरण के विभिन्न तत्व स्वच्छन्द तथा समन्वित दोनो रूपों में कृषिगत विशेषकताओं को निर्धारित करते हैं।

भारतीय कृषि को प्रभावित करने वाले विभिन्न तथ्य रहे हैं जिसमें इनकी मूलभूत विशेषतायें देखने को मिलती हैं, भिन्न हैं—

1. प्राकृतिक
2. सामाजिक

3. आर्थिक
4. राजनैतिक
5. तकनीकी

सर्वाधिक प्रभाव भौतिक (प्राकृतिक) वातावरण का पड़ता है। भौतिक कारकों में जलवायु प्रधान कारक है, मिट्टी तथा वनस्पति जलवायु की ही देन है। प्रत्येक पौधा अपनी निश्चित जलवायु में विकसित होता है। जलवायु के अन्तर्गत तापक्रम, आर्द्रता, वर्षा तथा हवा के प्रभावों का योगदान होता है। बीज जमने तथा वृद्धि के लिए उचित तापक्रम की आवश्यकता होती है। वर्षा की मात्रा तथा वितरण फसलों के वितरण प्रतिरूप को प्रभावित करती है। पाला कृषि के उच्चावसीय सीमा को प्रभावित करने वाले कारकों में प्रमुख है। मिट्टी कृषि की आधारशिला है, इसमें आर्द्रता प्राप्त करने की मात्रा मिट्टी के भौतिक गुणों पर आधारित होती है।

### अध्ययन क्षेत्र में प्राकृतिक वातावरण का विवेचन—

प्राकृतिक पर्यावरण का सर्वाधिक मूल्यांकन पारिस्थितिक विशेषताओं के

सन्दर्भ में किया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

1. भौतिक वातावरण की क्षेत्रीय भिन्नता पौधों एवं पशुओं के वितरण की सीमा निर्धारित करती है। 'क्लेजेज' ने संसार के कुछ महत्वपूर्ण पौधों की भौतिक सीमाओं का उल्लेख किया है तथा अनुकूलतम वातावरण की संकल्पना का प्रतिवादन किया है। अनुकूलतम वातावरण से क्लेजेज का आशय उस वातावरण से है जिसमें न्यूनतम लागत पर पौधे से अधिकतम पैदावार ली जा सके।
2. वातावरण के सभी पौधों की आत्मनिर्भरता कृषि के महत्त्व को प्रभावित करती है।
3. पौधा या पशु के वृद्धि या विकास में भौतिक पर्यावरण के प्रभाव का मूल्यांकन अवस्थानुसार किया जाना चाहिए।
4. भौतिक कारकों के बदलते हुए सामयिक तथा क्षेत्रीय दोनों स्वरूप

फसल तथा पशुओं के वितरण को प्रभावित करते हैं। फलस्वरूप, इस प्रकार के अन्तर्सम्बन्धों का समझना अनिवार्य है। कृषि को प्रभावित करने वाले मुख्य तीन भौतिक कारक हैं—

1. जलवायु
2. मिट्टी
3. उच्चावच

#### क. कृषि एवं जलवायु—

भौतिक कारकों में जलवायु प्रधान कारक है। मिट्टी तथा वनस्पति जलवायु की ही देन है। प्रत्येक पौधा अपने निश्चित जलवायु में विकसित होता है। जलवायु मित्रता तथा उसका उपज पर प्रभाव अध्ययन का सार्वजनिक महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। 'बैनेट' तथा 'तिमोशेंको' ने इन सम्बन्धों का अध्ययन संसार में एक फसल के संदर्भ में किया है। रोज ने मक्का पेट्टी में मक्का उपज तथा जलवायु सम्बन्धों को स्थापित किया है, जलवायु के अंतर्गत तापक्रम, आर्द्रता, वर्षा तथा हवा के प्रभावों का विवेचन आवश्यक है।

#### कृषि एवं तापक्रम—

बीज के जमने तथा वृद्धि के लिए उचित तापक्रम की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतया 65–75 डिग्री फा० तापक्रम फसलों की बाढ़-वृद्धि के लिए अनुकूलतम होता है। कुछ फसलों के पकने के समय अधिक तापक्रम चाहिए। यदि उस समय तापक्रम धीरे-धीरे बढ़ता है तब प्रति एकड़ उपज अधिक तापक्रम चाहिए, यदि उस समय तापक्रम धीरे-धीरे बढ़ता है तो प्रति एकड़ उपज अधिक होती है।

#### कृषि एवं वर्षा—

पौधे को जल अनेक रूपों में प्राप्त होता है जिसमें दो प्रधान स्रोत हैं—

1. मिट्टी से पौधे को जल का मिलना।
2. वायुमण्डलीय आर्द्रता से पौधे को जल का मिलना।

किसी न किसी प्रकार से पानी की प्राप्ति कृषि के लिए महत्त्वपूर्ण है। पौधे के विकास के लिए मिट्टी में जल की निश्चित मात्रा आवश्यक होती है। उचित जल की

मात्रा के अभाव में पौधा सूख जाता है। यही कारण है कि वर्षा जल क्षमता का निर्धारण सर्वदा वाष्पीकरण की मात्रा से प्रदर्शित होता है। वास्तव में मिट्टी की उत्पादकता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि कितना जल सतह के भीतर प्रवेश करता है। मिट्टी द्वारा जल स्वीकार करने की क्षमता मिट्टी के भौतिक गुणों पर निर्भर करती है। भिन्न-भिन्न पौधों में मिट्टी से जल लेने की क्षमता भी भिन्न होती है। मारगन तथा मान ने वार्षिक वर्षा की मात्रा को फसलों की वृद्धि तथा विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण बतलाया है। इसके अलावा सेन्डरसन, माल्या तथा गौपालन ने भी कृषि उत्पादकता में वर्षा के प्रभाव को निर्धारित किया है।

### कृषि एवं पाला—

स्थायी पालाग्रस्त क्षेत्रों की मिट्टी भी आर्थिक उपयोग के दृष्टिकोण से अत्यन्त गम्भीर समस्या है। पाला, कृषि के उच्चावच सीमा को प्रभावित करने वाले कारकों में प्रमुख है। समुद्र तटीय भाग पाला समस्या से मुक्त रहते हैं। अधिक ढाल के धरातल पर भी पाला का कम



प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि ढलान वाले भाग बागवानी के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। फल तथा सब्जी की खेती पर पाले का अपेक्षाकृत अधिक विनाशकारी प्रभाव पड़ता है।

### कृषि एवं हवा—

बढ़ते हुए वाष्पोत्सर्जन दर के कारण फलोत्पादन में हवा का अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि फसलों को अधिक जल की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे क्षेत्रों में जहाँ तेज हवायें चलती हैं, बीज बोने से पूर्व बीज के चुनाव में संचित शक्ति का विशेष ध्यान रखा जाता है।

### ख. कृषि एवं मिट्टी संसाधन—

मिट्टी कृषि की आधारशिला है। विभिन्न फसले, इनका उत्पादन और किसमें आदि मिट्टियों की उर्वरा शक्ति पर निर्भर करती हैं। मिट्टी में प्रधानता चार तत्व होते हैं— अकार्बनिक कण, कार्बनिक पदार्थ, जल तथा हवा। मिट्टी का निर्माण चट्टानों के टूटने से होता है। मिट्टी में पाये जाने वाले खनिज तत्वों में मृत्तिका तथा रेत का अंश मुख्य होता है।

मिट्टियों को जलवायु भी प्रभावित करती है। जलवायु के प्रभाव से मिट्टियों की विशेषतायें बनती-बिगड़ती रहती हैं क्योंकि ताप, वर्षा, अपक्षयण आदि का स्थानीय विशेषताओं के आधार पर प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रकार जलवायु प्रदेशों के आधार पर मिट्टियों के वृहद् प्रदेश बन जाते हैं।

जलवायु की भाँति मिट्टियों को धरातलीय दशायें भी प्रभावित करती हैं। ये भी मिट्टियों की विशेषताओं को बनाने में सहायक होती है। मिट्टी में आर्द्रता प्राप्त करने की मात्रा मिट्टी के भौतिक गुणों पर आधारित होती है। समतल क्षेत्र में मिट्टियाँ अधिक गहरी तथा स्थायी रूप से बनी रहती हैं जबकि पहाड़ी क्षेत्र के विभिन्न ढाल वाले क्षेत्रों में मिट्टियाँ कम हरी और ऊँचाई पर मिलती हैं। नदी घाटी के निचले भागों में मिट्टियाँ अधिक उपजाऊ पायी जाती हैं तथा इन क्षेत्रों में जल स्तर भी ऊँचा हो जाता है।

जलवायु व धरातलीय दशाओं की तरह वनस्पति भी मिट्टियों को प्रभावित करती है। पौधों से मिट्टी में वनस्पति का

मिश्रण होने से मिट्टी उर्वरा बन जाती है क्योंकि वनस्पति के जैविक तत्व, जीवायु तत्व जो ह्यूमस के रूप में जाने जाते हैं मिट्टियों को उर्वरा बनाने एवं इनकी शक्ति को बढ़ाने में अधिक सहायक होते हैं।

### ग. कृषि एवं उच्चावच-

फसलों का वितरण एवं क्षेत्र बहुत अंश तथा तक उच्चावच के स्वभाव पर आधारित होता है। उच्चावच कृषि भूमि उपयोग को दो रूप में प्रभावित करती है। उच्चवता तथा प्रवणता। इनका अपरोक्ष प्रभाव अंशतः जलवायु तथा मिट्टी के माध्यम से तथा परोक्ष प्रभाव तीव्र ढलान के कारण कृषि प्रतिकूलता के रूप में पड़ता है।

### उच्चवता का जलवायु पर प्रभाव-

कृषि भूमि उपयोग पर अधिक ऊँचाई का प्रथम प्रभाव हवा के कम दबाव के रूप में पड़ता है। इसके अतिरिक्त घटता हुआ औसत तापक्रम अधिक वर्षण तथा वायुगति भी भूमि उपयोग को प्रभावित करती है। बढ़ती हुई ऊँचाई तथा अक्षांश के आधार

पर विभाजित पेटियों के वितरण में पर्याप्त समानतायें मिलती है।

### प्रवणता—

कृषि पर प्रवणता का प्रभाव परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनो रूपों में पड़ता है। ऐसे अध्ययन में किस प्रवणता अंश में सूर्य से कितने घण्टे रोशनी प्राप्त होती है, निर्धारित करना आवश्यक होता है। ऊँचाई तथा प्रवणता के साथ मिट्टी, तापक्रम में पाये जाने वाले अंतर की भी जानकारी अनिवार्य होती है। कृषि पर प्रवणता का परोक्ष प्रभाव खेती की सीमाओं के रूप में पड़ता है। 6 डिग्री प्रवणता (1/10 डिग्री) कृषि कार्यों के लिए उपयुक्त होती है। आधे डिग्री ढाल पर जल का निकास तेजी से होता है तथा इस ढाल में भी उचित जल प्रवाह होता है। 3 डिग्री तथा 6 डिग्री ढाल के लिए मेकग्रेसर ने क्रमशः मन्द ढाल तथा साधारण ढाल का नामकरण किया है। अपवाह तथा अपरक्षण की मात्रा ढाल वृद्धि के साथ बदलती है।

### कृषि एवं मैदान—

मैदानी भाग ऐतिहासिक काल से ही कृषि कार्यों का स्रोत रहा है। मानव एवं



धरातल का सम्बन्ध एवं अन्तर्सम्बन्ध जितने तीव्र एवं गहरे रूप से मैदानी भागों में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं मिलता है। ग्रेगर ने अनेक क्षेत्रों में बाढ़ मैदान तथा कृषि भूमि उपयोग सम्बन्धों को चित्रित किया है।

### पर्वत एवं कृषि—

पर्वतों में कृषि योग्य भू-भाग कम होता है। मिट्टी क्षरण एवं भूमि स्खलन की समस्या अधिक होती है। यान्त्रिक कृषि असम्भव होती है। सिंचाई के साधनों का अभाव होता है। वर्षण अवधि पर्याप्त कम होती है। ऊँचाई के बढ़ने के साथ-साथ फसल संख्या एवं कृषि क्षेत्र में कमी हो जाती है। यातायात के साधनों का अभाव तथा सीमित उत्पादन मुख्य विशेषतायें होती हैं।

कृषि उद्यम महत्त्व के दृष्टिकोण से पठार का स्थान मैदान के बाद दूसरा है। अधिकांश पठारी भाग कृषि की अपेक्षा पशुचारण के लिए अधिक उपयुक्त है।

### सामाजिक कारक का विवेचन—

फसलोत्पादन क्षेत्र विशेष की उत्पादन विधि तथा वहाँ की सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से भी प्रभावित होता है। ऐसा देखा जाता है कि जहाँ जिस कृषिगत वस्तु की माँग अधिक होती है वहाँ पर उन्हीं वस्तुओं का विशेष रूप से उत्पादन होता है। मानवीय वातावरण के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रारूप में सतत् परिवर्तन के साथ-साथ कृषि प्रदेश में निरन्तर परिवर्तन होता है। फलस्वरूप कृषि प्रदेश की सीमायें तथा विशेषतायें गत्यात्मक होती हैं। मानवीय तत्वों के समान कृषि प्रदेशों का उद्भाव, विकास, विस्तार, परिवर्तन तथा ह्रास होता है। फसल उपजाने का निर्णय मानव विविधि प्रकार के मानवीय एवं ऐतिहासिक तत्वों से प्रभावित होकर करता है। इनमें विशेष प्रकार की फसलें, पालतू जानवरों की आवश्यकता, विशेष पारिस्थितिक दशाओं में फसल विशेष के उपजाने के विषय में ज्ञान अथवा अज्ञानता, फसल उगाने से किसी उद्देश्य की प्राप्ति की अभिलाषा, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार लोगों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया, फसल उगाने में एक विशेष ढंग की जीवन

पद्धति अपनाने की अभिरुचि आदि का योगदान होता है।

सामाजिक कारकों के अन्तर्गत तीन विशेष पहलुओं की व्याख्या की गयी है—

क— कृषि व्यवस्था एवं कृषि समुदाय की सामाजिक विशेषताएं।

ख— भू-स्वामित्व एवं पट्टा।

ग— जोत का आकार।

जब हम कृषि विशेषताओं का विश्लेषण करते हैं तो पहले कृषक के जीवनयापन विधि एवं व्यवस्था की ओर ध्यान आकर्षित होता है। कृषि पद्धति एवं सामाजिक विशेषताओं में विशेष सम्बन्ध एवं अन्तर्सम्बन्ध मिलता है। जीवन निर्वाहन कृषि व्यवस्था अविकसित एवं व्यापारिक कृषि अत्यधिक विकसित अर्थव्यवस्था का द्योतक है। इन दोनों कृषि व्यवस्थाओं की सामाजिक विशेषताओं में महान अंतर है। भिन्न-भिन्न व्यवस्था में कृषक समुदाय की भिन्न-भिन्न सामाजिक विशेषतायें होती हैं। वर्तमान सन्दर्भ में दृष्टिकोण अंगीकरण, सांस्कृतिक स्तर एवं शिक्षा सम्पर्क क्षेत्र का



मूल्यांकन करना अनिवार्य है। निःसन्देह इन विशेषताओं का सम्बन्ध उस क्षेत्र की वर्तमान कृषि व्यवस्था से है। उदाहरणार्थ जीवन निर्वाहन कृषि व्यवस्था में कृषकों का दृष्टिकोण सीमित तथा अंगीकरण क्षमता न्यूनतम होती है। जिसका एक कारक वह भी है कि उनका आर्थिक स्तर नीचा है। वे अपेक्षाकृत कम शिक्षित हैं तथा उनका सम्पर्क क्षेत्र भी सीमित होता है। संक्षेप में इस पक्ष का सम्बन्ध आर्थिक उपलब्धियों से है जो समाज को गतिमान एवं क्रियाशील बनाती है।

कृषक स्तर के लिए भू-स्वामित्व या किसी न किसी प्रकार का भूमि समझौता (पट्टा) जिससे कृषक खेती योग्य भूमि प्राप्त करता है, आवश्यक होता है और यह पक्ष उस क्षेत्र की कृषिगत विशेषताओं को प्रभावित करता है। भूमि पट्टा से आशय व्यवस्था या व्यक्तिगत अन्वय से है जो लिखित या अलिखित होता है तथा जिसके माध्यम से भूमि प्राप्त होती है। भूमि-पट्टा कृषि कार्य को कई रूपों में प्रभावित करता है।



1. भूमि पट्टा की अवधि— भूमि स्थायी मालिकान कृषि उत्पादन आयोजन एवं लाभ हेतु आवश्यक होती है। इसके अभाव में कृषक हतोस्ताहित होता है।
2. लागत की अवधि— भू-पट्टा की अवधि का लागत की अवधि निर्भर करती है। आवश्यकता पड़ने पर कृषक खेत से थोड़े समय में लाभ लेता है, जिससे मिट्टी की उर्वरक शक्ति प्रभावित होती है।
3. कृषि विकास के लिए मालिक अपने ही साधनों का आश्रित है या अन्य— यदि दूसरों के साधनों पर आश्रित रहता है तब उसे लाभ कम होता है।
4. रहने के लिए या कृषि के लिए आय का कौन—सा हिस्सा भाड़े के रूप में देना पड़ता है।
5. भूमि या पशुओं पर कितनी लागत लगायी जाती है तथा

6. भूमि की नयी खरीद या बैच द्वारा कृषि के विस्तरण या आंकुचन की सम्भावना क्या है?

रैय्यतदारी, पट्टेदारी तथा काश्तकारी व्यवस्था में भूमि स्वामित्व निश्चय ही आवश्यक होता है क्योंकि इससे कृषि में स्थायित्व मिलता है। साथ ही साथ अधिक लागत लगाने की प्रेरणा मिलती है। भूमि स्वामित्व में कृषि विकास में स्थायी पूँजी लगाने हेतु ऋण का मिलना आसान हो जाता है। उचित नियोजित रैय्यतदारी प्रथा के अनेक लाभ हैं। काश्तकार को चल पूँजी (पशु, मशीन, बीज, खाद तथा लागत) लगानी पड़ती है। अच्छी कृषि के लिए आवश्यक है कि समझौता लम्बे समय के लिए किया जाये। भारतवर्ष की कृषि में भी भूमि-स्वामित्व सम्बन्धी अनेक समस्याएँ हैं। ऐसा देखा जाता है कि जिनके पास भूमि स्वामित्व है वे स्वयं कृषि कार्य नहीं करते बल्कि भूमिहीन श्रमिकों द्वारा कृषि की जाती है। इसके विपरीत भूमिहीन श्रमिक जो जीवनपर्यन्त दूसरों की भूमि पर खेती करते हैं, कृषि के सभी लाभों से वंचित रह जाते हैं। यह एक ऐसा विरोधाभास है जिससे

कृषि क्षमता निरन्तर प्रभावित होती है। अतः खेत जोतने वाले से भूमि पर अधिकाधिक परिश्रम तथा उत्पादन में वृद्धि कराने के लिए आवश्यक है कि उस भूमि पर खेती करने तथा सदैव अपने अधिकार में रखने का पूर्ण विश्वास दिया जाये। इस सम्बन्ध में आर्थरयंग के शब्द उल्लेखनीय है "निजी सम्पत्ति की भावना से रेत का सोना बन जाता है। किसी व्यक्ति को एक चट्टान का निश्चित अधिकार मिलने से वह उसको उपवन बना देगा। उसे उपवन का नौ वर्ष का पट्टा मिले तो वह उसको मरूस्थल बना देगा।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भूमि पर स्थायी व पैतृक अधिकार वाले कृषक इस पर कुशलता से खेती करने में समर्थ होंगे।

कृषि में जोत का आकार महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि कृषि का पैमाना, उत्पादन रीति, खेती में मशीनीकरण, प्रति एकड़ उत्पादकता एवं क्षमता जोतों के आकार पर ही आधारित होती है। यहाँ पर आर्थिक एवं अनुकूलित जीत का उल्लेख करना आवश्यक है आर्थिक एवं अनुकूलित जोत वह इकाई है जो वर्तमान दशाओं में

अत्यधिक उत्पादन प्रदान करती है। डॉ० मान, कीटिंग, उत्तर प्रदेश बैंकिंग सुधार समिति, पंचवर्षीय आयोजन तथा कांग्रेस सुधार समिति ने आर्थिक जोत को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है लेकिन सभी इस सत्य पर मतैक्य हैं कि आर्थिक जोत या व्यापारिक जोत वह क्षेत्रफल है जिससे वर्तमान परिस्थितियों एवं व्यवस्थाओं में जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त उत्पादन होता है। आर्थिक जोत का आकार वास्तव में भूमि के उपजाऊपन, सिंचाई सुविधा तथा उत्पादन की जाने वाली फसलों से निर्धारित होता है। अनुकूलित जोत से आशय उस प्रकार से है जिससे उत्पत्ति के अन्य साधनों के साथ शुद्ध लाभ के दृष्टिकोण से अधिकतम उत्पादन होता है। अनुकूलतम जोत को आदर्श जोत भी कहते हैं। इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि किसान के पास इतनी भूमि अवश्य होनी चाहिए जिस पर उसकी पूँजी व श्रम का पूरा-पूरा उपयोग हो सके तथा जिससे खेती में लगायी गयी लागत लाभप्रद हो सके तथा कृषक अपने परिवार का उचित प्रकार से पालन पोषण कर सके। उत्तर प्रदेश सरकार ने सिंचित भागों तथा



असिंचित भागों के प्रत्येक कृषक परिवार के लिए क्रमशः 18 एकड़ तथा 25 एकड़ की फार्म सीमा निर्धारित किया है। अनुकूलित जोताकार की संकल्पना परिवार की संख्या, क्षेत्र एवं कृषि व्यवस्था के अनुरूप बदलता रहता है। छोटे जोताकार तथा जोतों का उपविभाजन एवं विखण्डन भारतवर्ष की कृषि की एक महान समस्या है। इनसे कृषि क्षमता कम हो जाती है क्योंकि—

1. प्रायः अधिकांश जोत अलाभकर हैं,
2. श्रम तथा समय की हानि होती है,
3. विभाजन एवं विखण्डन से कृषि योग्य भूमि कम हो जाती है,
4. स्थायी सुधार एवं उन्नति की संभावनायें कम हो जाती हैं,
5. खेतों की देख-रेख में असुविधा होती है तथा पूँजी संग्रह में असुविधा होती है।

उपविभाजन तथा विघटन के कारण खेतों का आकार छोटा हो जाता है जिसके

कुछ कारण इस प्रकार हैं— उत्तराधिकार के नियम, कृषि पर जनसंख्या की वृद्धि का भार, संयुक्त परिवार का ह्रास तथा व्यक्तिगत परिवार भावना का विकास, कृषक की अज्ञानता, कृषकों पर ऋण का भार, भूमि में अटूट सम्बन्ध तथा कुटीर उद्योग-धन्धों का अभाव।

### आर्थिक कारक का विवेचन—

कृषि को प्रभावित करने वाले प्रमुख आर्थिक कारक इस प्रकार हैं—

- क. कृषि कार्य तथा फार्म उद्यम।
- ख. क्षेत्रीय वैशिष्ट्य
- ग. बाजार
- घ. श्रम
- ड.. मशीनरीकरण
- च. यातायात
- छ. आर्थिक प्रशासनिक नीति

साधारणतया कृषक अपने फार्म में उन्हीं फसलों का उत्पादन करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ होता है या होने की



आशा होती है। एक व्यावहारिक कृषक कृषि लागत को उसी समय या उसी अंश तक बढ़ता है जब या जब तक उसे आय में वृद्धि की आशा दिखायी देती है। कभी-कभी उसे लागत मूल्य में ह्रास के साथ आय ह्रास भी सहन करना पड़ता है। ऐसा देखा जाता है कि छोटे आकार के जोतों में उचित आय प्राप्त करने के लिए अधिक गहरी खेती की आवश्यकता पड़ती है। स्वयं फार्म उद्यम का कृषि विशेषताओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है। दुग्ध उद्यम भी अत्यधिक गहन उद्यम है। ऐसा अनुमान है कि एक दुधारू गाय के वर्ष भर चारा के लिए दो एकड़ का फार्म उपयुक्त होता है। इसी प्रकार बाजार भी एक महान उद्यम है। जिसमें न्यूनतम क्षेत्र पर अधिकतम लाभ होता है। उत्पादन कार्य में मानव श्रम का अधिक प्रयोग होता है। ग्रेट ब्रिटेन में किए अनेक शोध अध्ययन से इस सत्य की पुष्टि हो चुकी है कि छोटे फार्मों (30-50 एकड़) पर प्रति एकड़ सुअर तथा मुर्गी पालन से लाभ की राशि दुग्ध उद्यम (मिश्रिम पशुपालन तथा अन्नोत्पादन) की अपेक्षा दुगुनी तथा पशुपालन की चौगुनी होती है। पशुपालन कार्य अपेक्षाकृत बड़े आकार के

फार्म पर अधिक लाभकर सिद्ध होता है। अनुमानतः माँस के उद्देश्य से मोटा बनाने के लिए एक जानवर को वर्ष में तीन एकड़ घास क्षेत्र की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार अन्नोत्पादन कार्य बड़े फार्मों में ही अधिक लाभकर सिद्ध होता है, विशेषकर गेहूँ फार्म बड़े होते हैं जबकि धान फार्म छोटा होता है, आलू फार्म निःसंदेह अधिक छोटा होता है।

आय तथा सीमान्त उपयोगिता विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि किस फसल को कितने समय तक किस क्षेत्र में उगाया जाये, लागत तथा आय के आधार पर क्षेत्र निर्धारित किया जाता है। इसी प्रकार कृषि उद्यमों की प्राथमिकता एवं उत्पादन क्षेत्र भी प्रति एकड़ शुद्ध लाभ से निर्धारित होता है। ऐसा देखा जाता है कि कृषक अपने पड़ोस के कृषि कार्यकलापों को अपनाता है। कृषिगत संमानता के आधार पर कृषि क्षेत्र की सीमाओं का निर्धारित किया जाता है जिन भागों में क्षेत्रीय विशिष्टता स्पष्ट दिखायी देती है वहाँ विशिष्ट क्षेत्र को परिसीमित करना आसान हो जाता है। दो विशिष्ट क्षेत्रों के



बीच एक ऐसा भी क्षेत्र होता है जहाँ दोनो उद्यमों से बराबर लाभ होता है। गेहूँ तथा पशुपालन विशिष्ट क्षेत्रों के बीच मिश्रित कृषि उद्यम क्षेत्र इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। यहाँ पर विशिष्ट तथा एक प्रथम उद्यम का अन्तर समझना आवश्यक है। एक प्रधान उद्यम क्षेत्र में विशिष्टता अवश्य होती है लेकिन क्षेत्रीय विशिष्टता के लिए आवश्यक नहीं है कि वहाँ केवल एक प्रधान उद्यम हो। बुचनान ने डेनमार्क के दुग्ध उद्यम को विशिष्ट उद्यम बताया लेकिन इस विशिष्टता का सम्बन्ध उत्पादन की अपेक्षा पद्धति से अधिक है। नवीन देशों में अत्यधिक वैशिष्ट्य कृषि प्रणाली अपनायी जाती है जहाँ उत्पादन के अन्य कारकों में भूमि सस्ती तथा अधिक मात्रा में उपलब्ध है जबकि श्रम महँगा तथा उसकी उपलब्धि न्यूनतम है। फलस्वरूप विस्तृत कृषि प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें प्रति श्रम इकाई लाभ की मात्रा अधिक होती है। क्षेत्रीय विशिष्टता की संकल्पना एक परिवर्तनशील संकल्पना है। आन्तरिक स्वरूप (श्रम, भूमि, पूँजी प्रबन्ध) में ही परिवर्तन नहीं होता बल्कि बाह्य कारकों (माँग, यातायात तथा उत्पादन की मात्रा) में भी परिवर्तन होता

है। क्षेत्रीय विशिष्टता में स्थान परिवर्तन भी होता है यद्यपि यह एक धीमी प्रक्रिया है। अधिक विशिष्ट क्षेत्र अपनी प्राचीन अवस्थितिव के कारण परिवर्तन में अवरोधी होते हैं क्योंकि ऐसे वैशिष्ट्य क्षेत्रों में कृषि केवल एक व्यवसाय मात्र ही नहीं होती बल्कि जीवन यापन का एक माध्यम बन जाती है। इन विशिष्ट क्षेत्रों के किनारों या सीमान्तीय भागों में परिवर्तन की दर अपेक्षाकृत अधिक होती है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण एवं स्थानीय परिस्थितियों से प्रभावित होकर कुछ सामयिक परिवर्तन अवश्य होता है। यद्यपि नगण्य है।

उत्पादन कारकों में बाजार एक महत्वपूर्ण कारक है, उत्पादित पदार्थों के उचित क्रय-विक्रय के लिए उपयुक्त बाजार व्यवस्था की नितांत आवश्यकता होती है। बाजार से दूरी के कारण कृषक को उचित मूल्य नहीं मिल पाता, न ही उत्पादन लागत पदार्थ ही मिल पाता है। बाजार से दूर स्थित क्षेत्रों में सहकारी क्रय-विक्रय प्रणाली अनिवार्य होती है। भारतवर्ष में “खाद्य व्यापार निगम” की स्थापना की गयी इसके अलावा सहकारी समितियाँ, उत्पादक बोर्ड



तथा अन्य सहकारी समितियों का विशेष भौगोलिक महत्त्व है। इन प्रबन्धों के अभाव में उचित परिस्थितियाँ होते हुए भी क्षेत्र एवं उत्पादकता में कमी हो जाती है। बाजार के बदलते मूल्यों से भी उत्पादकों में अस्थिरता आती है जिससे अच्छी व्यवस्थिति कृषि प्रणाली का हास होता है। अच्छी विपणन व्यवस्था से क्षेत्रीय आर्थिक स्थिरता प्राप्त होती है तथा आर्थिक विकास भी तेजी से होता है जीवन निर्वाहन व्यवस्था के अलावा अन्य सभी व्यवस्थाओं में कृषक उन पदार्थों के उत्पादन को प्राथमिकता देता है जिनकी माँग बाजार में अधिक होती है। माँग स्थानीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनो स्तर पर हो सकती है। स्थानीय स्तर पर उत्पादक तथा उपभोक्ता का सम्बन्ध परोक्ष निकट एवं साधारण होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह सम्बन्ध अति दूर, जटिल एवं अपरोक्ष होता है।

कृषि को प्रभावित करने वाले आर्थिक कारकों में श्रम एक महत्वपूर्ण कारक है। भिन्न-भिन्न फसलों के उत्पादन के लिए श्रम की विभिन्न दरों की आवश्यकता पड़ती है। श्रम के अभाव में

उन फसलों का उत्पादन नहीं किया जाता है जिनमें अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है।

कृषि कार्यों पर मशीनीकरण का प्रभाव दो रूपों में पड़ता है—

क. श्रम विभाजन।

ख. कृषि कार्य विस्तार।

नवीन देशों में कृषि मशीनों का प्रयोग मानव श्रम के अभाव में हुआ। मशीनों के प्रयोग से मानव श्रम के अभाव की पूर्ति होती है तथा लाभ में भी वृद्धि होती है। मशीन द्वारा श्रम का प्रारम्भ लाभकारिता सीमान्त की भावना से भी होता है। कृषक श्रम लागत खर्चों को कम करते हुए शुद्ध लाभ में वृद्धि के उद्देश्य से मानव श्रम की माँग में कमी नहीं होती है क्योंकि गहन कृषि प्रणाली में अन्य कार्यों के लिए मानव श्रम की आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि मशीनीकरण क्षेत्रों में श्रम कुशलता में परिवर्तन हो जाता है। मशीनीकरण का दूसरा विशेष प्रभाव कृषि कार्य के विस्तार के रूप में पड़ता है। सच तो यह है कि कृषि का इतिहास जुताई के विकसित



साधनों द्वारा कृषि के क्षेत्र के विस्तार से जुड़ा हुआ है। जुताई यन्त्रों का क्रमिक विकास हल्का लकड़ी का हल, भारी लकड़ी का हल, घोड़ा चालित हल तथा शक्ति चालित मशीनों के रूप में हुआ। मशीनों का प्रयोग उन क्षेत्रों में अनिवार्य होता है जहाँ कृषि के लिए वर्धनकाल कम मिलता है या मिट्टी अत्यन्त कठोर होती है। आधुनिक मशीनों के प्रयोग से तकनीकी दृष्टिकोण से पिछड़े भागों की भूमि उत्पादकता में वृद्धि हुयी।

उपज को उपभोक्ता या खरीददार तक पहुँचाने के लिए यातायात के सुगम साधनों की आवश्यकता पड़ती है। उपयुक्त सड़कें, रेल तथा जलमार्ग के अभाव में उपज को उपभोक्ता तक नहीं पहुँचाया जा सकता है अतः ऐसे भागों में उत्पादन कम लाभकर सिद्ध होने लगता है। इस प्रकार यातायात के साधन बहुत अंश तक फसल स्थिति को निर्धारित करते हैं तथा बड़े पैमाने पर कृषि विशिष्टता प्रदान करने में समर्थ होते हैं। किसी क्षेत्र में वांछनीय यातायात क्षमता उपजों के स्वभाव से निर्धारित होती है। उदाहरणार्थ— शीघ्र

सड़ने वाली उपजों के लिए तेज रफ्तार वाले यातायात साधनों की आवश्यकता पड़ती है या लम्बी अवधि के लिए उसके संरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। बाजार—बागाती उत्पादन क्षेत्र का विकास करने में सड़क यातायात पर्याप्त समर्थ है। आर्थिक दृष्टिकोण से बाजार के निकट स्थिति सब्जी उत्पादन क्षेत्र से अधिक लाभ होता है। दुर्गत उत्पादन क्षेत्र सब्जी क्षेत्र की अपेक्षा कुछ अधिक दूरी पर स्थिति हो सकता है क्योंकि दूध, सब्जी की अपेक्षा कम सड़ने वाला तथा कम भारी होता है, कम सड़ने वाले पदार्थों के लिए गति की अपेक्षा यातायात साधनों की बारम्बारता अधिक महत्वपूर्ण होती है। कृषक द्वारा यातायात लागत व्यय कृषि के अनेक पहलुओं को प्रभावित करता है। यही कारण है कि यातायात के अभाव का मूल्यांकन केवल गति बारम्बारता या दूसरे शब्दों में क्षमता के दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि मुख्यरूप से परिव्यय के आधार पर किया जाता है। ऐसा देखा जाता है कि यदि यातायात लागत किसी फसल या उपज के उत्पादन की सहन—सीमा से अधिक है तब उस फसल को कोई प्रोत्साहन नहीं



मिलेगा। कृषक की कृषि लागत पदार्थ बीज, चारा, खाद, पशु तथा अन्य घरेलू वस्तुओं को लाने में यातायात प्रभावित करता है। यातायात लागत में कमी करके किसी भी फसल उत्पादन क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है।

सुगम यातायात द्वारा उत्पादन क्षेत्र का विस्तार किया जाता है जबकि प्रशासनिक नियन्त्रणों द्वारा क्षेत्र को कम तथा सुव्यवस्थित किया जाता है। आयात नियन्त्रण का प्रयोग देश के अन्तर्गत अधिक उत्पादन लागत की सुरक्षा हेतु किया जाता है। इसके अतिरिक्त पदार्थों के सीमित आयात के उद्देश्य से कोटा सीमा पद्धति भी अपनायी जाती है। इन प्रशासनिक तन्त्रों का कृषि कार्यो पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इन आर्थिक—प्रशासनिक नियन्त्रणों के प्रभावों का मूल्यांकन असम्भव है लेकिन इतना अवश्य है कि यदि कृषि कार्यो का व्यापार स्वतंत्र रूप से होता रहे तब जिन देशों ने इनके उत्पादन में अधिक लागत लगती है, दुःखद होता है। साथ ही साथ ऐसे देशों के कृषि प्रणाली में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। यदि वास्तविक



सच्ची प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो जायें तब अनेक देशों के छोटे-छोटे फार्म बड़े फार्मों में परिणित हो जाये। मशीनों का प्रयोग आसान तथा कृषि क्षमता में भी वृद्धि हो जाये साथ ही साथ उत्पादन विविधता एक फसल उत्पादन में परिवर्तन हो जायेगी तथा कम लागत वाले क्षेत्रों में अधिक गहरी खेती होनी लगी।

### राजनैतिक कारक का विवेचन—

कृषि पर राजनैतिक कारकों का प्रभाव स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी स्तरों पर पड़ता है। वाल्केनवग ने कृषि पदार्थों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता पर अधिराष्ट्रीय संगठन सम्बन्धी प्रभावों को महत्त्वपूर्ण बताया। प्रशासनिक निर्णय के कारण कम लाभकर भागों में फसल क्षेत्र में कमी की गयी तथा साथ ही साथ दूसरे लाभकारी भागों में कृषि की गयी तथा प्रति एकड़ उपज को भी बढ़ाया गया, इस प्रकार कृषि भू-दृश्य में परिवर्तन हुआ। नये भागों को भी कृषि यौग्य बनाया गया। इस व्यवस्था के कारण कुछ भागों की क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था पूर्णरूपेण परिवर्तित हो गयी। दूसरे भागों में भी दृढ़ भूमि उपयोग नियंत्रण



के कारण वैशिष्ट्य शरय प्रतिरूप अपनाया गया।

राजनैतिक कृषि भू-दृश्य ग्रेगर ने राजनैतिक कारकों से प्रभावित भू-दृश्य को राजनैतिक भू-दृश्य का नामकरण किया है। राजनैतिक कारकों के विश्लेषण का यह एक नया उपागम है, जिसके अन्तर्गत किसी क्षेत्र विशेष की कृषि भू-दृश्यावली में सभी राजनैतिक कारकों का समन्वित विश्लेषण किया जाता है इस प्रकार के अध्ययन में दो मुख्य उपागम अपनाये गये हैं—

क. सीमा आवर्त अध्ययन।

ख. सरकार द्वारा निर्धारित कृषि व्यवस्था का अध्ययन।

दो विभिन्न विशेषता वाले भूमि उपयोग को विभाजित करने वाली सीमा रेखा इस प्रकार के विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण आधार होती है। ऐसा ही अध्ययन रोज ने क्वीन्सलैण्ड तथा न्यू साउथवेल्स की भूमि को विभाजित करने वाली तीव्रता सीमा रेखा आधार पर किया है। इसके अलावा नवीन बस्ती सम्बन्धी सरकारी नीति तथा भूमि सुधार योजना का भी कृषि प्रतिरूप पर

विशेष प्रभाव दिखायी देता है। इस सम्बन्ध में एगस, वण्डरहिल, एंगली तथा मेकडरमाण्ड के अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने विज्ञानों के नये बसाव क्षेत्र सम्बन्धी सरकारी नीति तथा भूमि सुधार नीति जैसे कारकों को कृषि तथा क्षेत्रीय भूमि उपयोग में महत्त्वपूर्ण कारक बताया है। सरकारी भूमि सर्वेक्षण का भी कृषि भू-दृश्यावली पर अमिट छाप अंकित रहती है। इस दृष्टिकोण से नवीन विकसित देशों का उदाहरण प्रशंसनीय है। यद्यपि अन्य पक्षों की तुलना में इस पक्ष पर अध्ययन कम हुआ है। भारतवर्ष के खेत-प्रणाली के सम्बन्ध में हार्ट का अध्ययन विशेष उल्लेखनीय है।

### तकनीकी कारक का विवेचन-

किसी क्षेत्र की कृषि विशेषतायें उस क्षेत्र की तकनीकी उन्नति अवस्था पर भी निर्भर करती है। जीवन निर्वाहन कृषि व्यवस्था की तकनीकी अवस्था पिछड़े स्तर की है आज भी मशीन, उर्वरक, उन्नतशील बीज का कम प्रयोग होता है, कृषि यन्त्र प्राचीन है, छोटे स्तर पर खेती की जाती है जबकि व्यापारी कृषि प्रदेशों की तकनीकी



अत्यन्त विकसित अवस्था की है। वहाँ अनेक प्रकार की कृषि मशीन, रासायनिक उर्वरक आदि का वृहत रूप से किया जाता है। व्यापारिक फसलों को बड़े आकार के कृषि फार्म पर वैशिष्ट्य खेती जी जाती है। परिवहन के सस्ते तथा सुगम साधन उपलब्ध हैं। यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक कृषि प्रदेश के ऐतिहासिक उद्भाव में अनेक तकनीकी अवस्थायें मिलती हैं। उदाहरणार्थ संयुक्ता राज्य तथा यूरोप में भी औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व मशीनों का प्रयोग नहीं होता था लेकिन तकनीकी ज्ञान के विस्तार के साथ-साथ इन देशों में कृषि का स्वरूप बदलता गया।

### कृषि एवं तकनीकी स्तर-

प्राचीन काल से आधुनिक समय तक के तकनीकी स्तर को कई भागों में बाँट सकते हैं-

- क. कुदाल तकनीकी स्तर,
- ख. हल तकनीकी स्तर,
- ग. ट्रैक्टर तथा मशीनी तकनीकी स्तर।

कुदाल तकनीकी स्तर के सम्पूर्ण कृषि औजारों को तीन किस्मों में विभाजित किया जा सकता है— कुदाल, बीज डालने की छड़ी तथा गड़ढा करने की छड़ी। इन प्राचीनतम औजारों के प्रयोग में मानवीय श्रम की आवश्यकता पड़ती है जिसमें हाथ का कार्य अधिकतम होता। इन प्राचीनतम कृषि औजारों से सम्बन्धित अर्थव्यवस्था को “कुदाल संस्कृति” कहते हैं। प्राचीन काल में इसके अन्तर्गत आज की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र था लेकिन बाद में तकनीकी विकास के साथ—साथ लुप्त या प्रतिस्थापित होता गया। अन्य तकनीकी स्तरों के समान इस संस्कृति की मुख्य विशेषता अधिक अन्नोत्पादन करना है। यद्यपि यह पूर्णरूपेण अविकसित कृषि व्यवस्था है। श्रम विभाजन दूसरी व्यवस्था है। विकसित कृषि तकनीकी देशों की कृषि के दृष्टिकोण से इस संस्कृति में सम्पन्न कृषि कार्य अत्यन्त दोषपूर्ण एवं अलाभप्रद दिखायी देता है परन्तु सत्य तो यह है कि जिस वातावरण में यह तकनीकी अपनायी जाती है, उस वातावरण के लिए वही लाभदायक है। इस तकनीकी स्तर के कृषकों के खेत छोटे एवं बिखरे होते हैं।

प्रत्येक कृषि आर्थिक स्वरूप के अनेक तकनीकी प्रक्रमों की देन होता है जो सामने पूर्व प्रचलित तकनीकी स्तरों के सुधार के रूप में दृष्टिगोचर होता है। हल तकनीकी स्तर कुदाल का ही सुधरा रूप तो अत्यन्त जटिल है और प्रायः सभी क्षेत्रों में किसी न किसी रूप में अवश्य प्रयोग होता है। इसका प्रयोग लगभग आठ हजार वर्ष पुराना है। निःसन्देह इनकी क्षमता कुदाल की अपेक्षा अधिक है। खाद्य उत्पादन वृद्धि में भी कुदाल स्तर की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। हल संस्कृति की प्रमुख विशेषता मिश्रित साधन है। उदाहरण के लिए कोयले से भाप की शक्ति प्राप्त होती है, पेट्रोल प्रेरक शक्ति का मुख्य स्रोत है, यूरेनियम एवं मोनाजाइट खनिज अणु शक्ति प्रदान करते हैं और जल से हमें प्राप्त होती है बिजली की शक्ति। वर्तमान युग में शक्ति के साधनों का महत्त्व प्रत्येक दिशा में है। जैसे— आर्थिक तथा वैज्ञानिक प्रगति के युग में मनुष्य ने शक्ति के अनेक नये—नये साधनों का आविष्कार किया है और वे साधन वर्तमान युग की प्रगति के मूल आधार बन गये हैं। इसका कृषि के लिए भी महत्त्व है। कृषि, उद्योग, व्यापार तथा

यातायात की उन्नति के लिए शक्ति के साधनों की भारी आवश्यकता है, कृषि का मुख्य व्यवसाय है। यदि तेल व डीजल न मिले तो ट्रैक्टर का पहिया घूमना बन्द हो जायेगा, बिजली न हो तो ट्यूबवेल न चले और खेत पानी के लिए तरस जायें तथा अन्न के लिए हाहाकार मच जाये।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि ये शक्ति के साधन न हो तो ऐसा लगे कि मानो राष्ट्र के हृदय की घड़कन ही रुक गयी है और राष्ट्र के शरीर में रक्त का प्रवाह ही रुक गया है।

विकास खण्ड बण्डा में विद्युतीकरण ग्रामों की संख्या 162 है यहाँ पर 6 कारखाने राइस मिलों के रूप में तथा 6 कारखाने केन क्रेसर्स के रूप में विकसित हैं जिसमें शक्ति के साधन का प्रयोग विद्युत के रूप में किया जाता है। ऊर्जाकृत निजी नलकूपों की संख्या 1124 है तथा राजकीय नलकूप 27 हैं तथा इस खण्ड में विद्युतीकृत हरिजन बस्तियाँ 65 हैं। विकास खण्ड बण्डा में शक्ति के साधन के रूप में विद्युत का प्रयोग मुख्य रूप से कारखानों को चलाने, नलकूपों को चलाने तथा दैनिक



उपयोग के रूप में किया जाता है। इसके साथ ही वर्तमान युग में कृषि के विकास के लिए खेतों को जोतने के लिए ट्रैक्टरों का प्रयोग किया जाता है, जिसको सुचालित करने के लिए डीजल का प्रयोग किया जाता है तथा अनाज को साफ करने के लिए थ्रेसर का प्रयोग किया जाता है। इसमें भी इसकी आवश्यकता पड़ती है जो कि शक्ति के साधन का ही रूप है उत्पादित पदार्थों को विक्रय हेतु मंडियों में ले जाया जाता है तो उसके लिए ट्रक, ट्रैक्टर या अन्य कोई शक्ति चालित साधनों के प्रयोग किया जाता है। अतः कृषि के विकास में शक्ति के साधनों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है।

### सिंचाई

जल मानव जीवन का मुख्य आधार है। उसके लिए जितनी महत्वपूर्ण मिट्टी है, उतनी ही जल भी है क्योंकि बिना जल की सहायता से वह मिट्टी से कुछ भी उत्पादन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त कोई भी आर्थिक कार्य ऐसा नहीं है जो जल के बिना संभव है। वस्तुतः जल के बिना जीवन ही संभव नहीं है। बैनेट का मतह " कि

“बिना जल के मिट्टी मरुस्थल है तथा बिना मिट्टी के जल बेकोर है। “Soil without water is desert and water without soil is useless” जल एक जीवनदायी तत्व तथा अक्षय संसाधन है। अतः मनुष्य को जीवित रहने के लिए जिस प्रकार भोजन व पानी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भूमि पर खेती करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भूमि को पर्याप्त मात्रा में खाद व पानी मिले। भोजन व पानी के अभाव में जिस प्रकार मनुष्य की कार्य क्षमता घट जाती है उसी प्रकार खाद व पानी के अभाव में भूमि की उत्पादन क्षमता घट जाती है। पौधे के विकास के लिए मिट्टी में जल की निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है, उचित जल की मात्रा के अभाव में पौधा सूख जाता है। जब वर्षा के द्वारा इसकी पूर्ति नहीं होती है तो उसे सिंचाई के द्वारा पूरा किया जाता है। सिंचाई के साधनों के रूप में सबसे अधिक निजी नलकूपों का प्रयोग किया जाता है एवं नहर द्वारा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में सिंचाई की जाती है तथा कहीं-कहीं पर तालाब एवं अन्य साधनों का प्रयोग किया जाता है। विकास खण्ड बण्डा में कुल कृषि



भूमि का 58.11 प्रतिशत भाग सिंचित है जिसमें से 8.50 प्रतिशत नहरों द्वारा, 4.50 प्रतिशत राजकीय नलकूपों द्वारा, 76.80 प्रतिशत निजी नलकूपों द्वारा, 8.4 प्रतिशत कुओं द्वारा, 0.1 प्रतिशत तालाब द्वारा तथा 1.70 प्रतिशत भूमि की अन्य साधनों द्वारा सिंचाई होती है।

जल का प्राकृतिक चक्र सौर ऊर्जा से प्रभावित होता है और ताप से प्रभावित होकर भू-पृष्ठीय जल वाष्प बनकर ऊपर उठता है और वायु के ठण्डी होने पर ये वाष्प पुनः बूँदें बनकर पृथ्वी पर वर्षा के रूप में बरसती हैं। इस जल का कुछ भाग भू-पृष्ठीय जल के साथ समुद्र में तथा कुछ भाग मृदा में रिसकर भौगर्भिक जल बनता है। इस प्रकार जल का चक्र निर्वाध गति से चलता रहता है। वर्षा का मौसम जून से सितम्बर के मध्य रहता है, शेष महीनों में फसलोत्पादन हेतु छुट-पुट वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई का सहारा लिया जाता है। भू-पृष्ठीय जल मनुष्य को प्राकृतिक जलाशयों जैसे— नदियों, झीलों तालाबों तथा मानव निर्मित नहरों द्वारा प्राप्त होता है। यह गोमती एवं जुकनई नदी भू-पृष्ठीय

जल के प्रमुख स्रोत हैं, जिसके द्वारा सिंचाई की जाती है। जल का वह भाग जो भूमि द्वारा सोख लिया जाता है, भूमिगत जल कहलाता है। एक अनुमान के आधार पर यदि सम्पूर्ण भूमिगत जल को पृथ्वी की सतह पर लाया जाये तो 300 मीटर मोटी जल की पर्त बिछ जायेगी। भूमिगत जल को कुएं तथा नलकूपों द्वारा सिंचाई के प्रयोग में लाया जाता है। कुएं से पानी निकालने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है तथा महंगा भी पड़ता है। अतः नलकूपों का प्रचलन बढ़ गया है। विकासखण्ड बण्डा में कुल नलकूपों की संख्या 6925 है।

### कृषि यन्त्र व उपकरण—

कृषि में औजारों का महत्त्व प्रारम्भ से ही रहा है। चाहे वह कृषि औजार पुराने, अभद्र तथा अवैज्ञानिक ढंग से ही क्यों न रहे हों। कृषि विकास का इतिहास समय—समय पर नये औजारों के आविष्कार के साथ ही जुड़ा हुआ रहा है। यही कारण है कि विभिन्न सभ्यताओं के काल में बने



कृषि उपकरणों के मिलने वाले नमूनों व आकार—प्रकार के आधार पर ही कृषि की दिशाओं का पता चलता है। प्रारम्भ से जब मानव ने कृषि करना प्रारम्भ ही किया था तब वह कृषि बिना औजारों के होती थी तथा प्राकृतिक रूप से वर्षा के आधार पर जो पैदा हो जाता था उसे ही उदरपूर्ति के काम में लाया जाता था। धीरे—धीरे भूमि को कुरेदने के लिए जमीन खोदने की लकड़ी (Pigging Stick) व खुरपे (Hoc) का प्रयोग किया जाने लगा। ऐसा माना जाता है कि 4000 ई0 पूर्व के आस—पास मैसोपोटामिया (दजला व फरात घाटी सभ्यता) व मिश्र की सभ्यताओं में लकड़ी के हल का प्रयोग खेती में प्रारम्भ हो चुका था जिसे आर्ड्स (Ards) कहा जाता था। जहाँ लकड़ी के साथ खुरपे को बांधकर हल की तरह प्रयोग में लाते थे लेकिन भूमि जोतने के अयोग्य होने से अधिक लम्बे समय तक यह प्रचलित नहीं रहा। बाद में करीब 1000 ई0 पूर्व समनगरीय व चीन क्षेत्र के प्रदेशों में लोहे के फलदार हल का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। हल को खींचने के लिए दो बैलों का प्रयोग किया जाता था। हल में लोहे के फल (Iron Shares) के प्रयोग ने विश्व में

कृषि क्षेत्रों विकास व विस्तार में योगदान दिया जिससे बेकार भूमि को कृषि में लाया जा सका। मशीनों व नयी तकनीकों द्वारा कृषि में मूलभूत परिवर्तन आया। इसका अधिकांश क्षेत्र 1892 में निर्मित गैसालीन ट्रैक्टर तथा 1910 में कम्बुस्टन इंजन ट्रैक्टर चालित मशीनों को है जिनके प्रयोग के कारण कृषि को आसान व सुलभ बना दिया गया। आज भी अधिकांश ग्रामीण कृषकों द्वारा प्रयुक्त होने वाली कृषि मशीनें एवं उपकरण पुराने प्रकार की है जिनमें श्रम की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। मशीनीकरण प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ाता है और विज्ञान प्रति एकड़ उत्पादकता की वृद्धि करता है आदि तथ्यों को ध्यान में रखकर कृषकों को उन्नत किस्म के उपकरणों और औजारों की उपपर्युक्तता और इनसे होने वाले लाभों के विषय में ब्लाक स्तर पर व्यापक प्रचार योजना बनायी गयी है। साथ इन उपकरणों और औजारों को किराये पर देने वाले केन्द्रों को स्थापित कराने की भी योजना बनायी गयी है। छोटे व सीमांत किसानों को इनकी खरीद के लिए छूट तथा अनुदान देने की व्यवस्था की गयी है। कृषकों को नवीनतम



तकनीक की जानकारी देने के लिए 1983 में केन्द्र स्तर की कृषि उपकरण की समीक्षा और स्वीकृति समिति का गठन किया गया।

विकास खण्ड बण्डा में मशीनीकरण की स्थिति 1988—

1.	लोहे के हल	8914
2.	लकड़ी के हल	9372
3.	उन्नत हैरो	4906
4.	उन्नत कल्टीवेटर	3047
5.	स्प्रेयर	145
6.	उन्नत बुवाई यंत्र	216
7.	ट्रैक्टर	534

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि कृषि उत्पादन बढ़ाने में आधुनिक मशीनों व उपकरणों का योगदान भी महत्वपूर्ण है।

### खाद उर्वरक एवं बीज—

कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार भूमि से अन्य कृषि आदान की मात्रा यथावत रखी

गये तो प्रति टन उर्वरक के प्रयोग से उस भूमि से अनाज उत्पादन में 8 से 10 टन की प्रति हेक्टेयर वृद्धि हो जाती है। भारत की मृदाओं में यद्यपि भारी विवधिता देखने को मिलती है। यहाँ की लगभग सभी मिट्टियों में दो तत्वों फास्फोरस और नाइट्रोजन की कमी पायी जाती है। अतः कृषि कार्य हेतु फास्फोरस एवं नाइट्रोजन युक्त उर्वरकों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। भारत में उर्वरक उपयोग प्रतिरूप के सम्बन्ध में कुछ तथ्य उल्लेखनीय हैं, जैसे— देश के कुल उर्वरक खपत का 2/3 भाग रबी फसलों के लिए ही प्रयुक्त होता है क्योंकि इन फसलों के उत्पादन क्षेत्रों में सिंचाई सुविधाओं का अधिक विकास हुआ है। वर्षा पर निर्भर क्षेत्र, जो देश की कुल कृषि भूमि के 40 प्रतिशत भाग पर विस्तृत है। देश की कुल उर्वरक खपत का सिर्फ 20 प्रतिशत भाग की प्राप्त करता है। सरकार ने इस समस्या को पहचान कर देश के 16 राज्यों के 60 जिलों में निम्न उपभोग वाले वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में उर्वरक उपभोग की राष्ट्रीय परियोजना (National Pand Development of Fertilizer use in low consumption rainfall areas) चलाया है।

जिसके अंतर्गत प्रदर्शन, कृषक प्रशिक्षण, मृदा सुविधा, खुदरा विक्रय सुविधा आदि की व्यवस्था की जाती है। उर्वरकों के उपयोग में सबसे बड़ी बाधा इनकी उच्च कीमतें हैं चूंकि राष्ट्रीय उत्पादन बहुत अधिक नहीं है। अतः विदेशों से कुल खपत का लगभग 1/4 भाग आयात करना पड़ता है। परन्तु उर्वरकों की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में भारी वृद्धि के कारण उनके आयात हेतु बड़ी मात्रा में मृदा की आवश्यकता के कारण वांछित मात्रा में उनका विदेशों से आयात नहीं किया जा सकता फिर भी उर्वरकों के उपयोग को प्रोत्साहित करने हेतु सरकार ने अनेक उपाय किये हैं। इनमें सर्वप्रमुख हैं उर्वरकों पर भारी अनुदान की व्यवस्था। 1994-95 में उर्वरक अनुदान के रूप में 4000 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी, परन्तु इस विशाल राशि के बावजूद छोटे कृषक उर्वरकों का उपयोग करने में असमर्थ होते हैं। अतः इस अनुदान राशि का अधिकांश भाग बड़े कृषकों की झोली में पहुँच जाता है। उर्वरकों की किस्मों की गुणवत्ता बनाये रखना आवश्यक है। सरकार ने इसके लिए उल्लेखनीय प्रयास किये हैं। देश के विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र



शासित प्रदेशों में 43 उर्वरक किस्म नियन्त्रण प्रयोगशाला कार्यरत हैं। फरीदाबाद में एक केन्द्रीय प्रयोगशाला है।

कृषि के उत्पादन के लिए बीजों का उन्नत होना निर्विवाद रूप से आवश्यक है। 1960 के दशक के मध्य में भारत में हुई हरित क्रान्ति की नींव मैक्सिको से आयातित उन्नत किस्म के गेहूँ के बीज की सहायता से ही पड़ी थी। भारत में उन्नत बीज के महत्त्व को काफी पहले से समझ लिया गया था। 1926 में शाही कृषि आयोग ने भारत में अच्छी किस्म के बीजों की ध्यान में रखकर ही 1963 में राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गयी, तत्पश्चात अनेक राज्यों में राज्य बीज निगम की स्थापना (1969) में हुई। इसके साथ ही देश भर में बीज प्रमाणीकरण संस्थाओं और बीज परीक्षण प्रयोगशालाओं का जाल भी बिछाया गया। नये शोधों के आधार पर भारत के बीज उत्पादन चक्र को 3 चरणों में विभाजित किया गया प्रजनक बीज, मूल बीज और प्रमाणीकृत बीज प्रजनक बीज, बीज उत्पादन प्रक्रिया का प्राथमिक चरण है, जिसका क्रियान्वयन भारतीय कृषि



अनुसंधान परिषद करता है। कृषि विश्वविद्यालयों तथा अनुसंधान संस्थाओं में शोध एवं परीक्षणों के पश्चात जो परमशुद्ध और वांछित गुणों वाला मौलिक बीज तैयार किये जाते हैं उनसे ली गई पहली फसल से उपलब्ध बीज ही प्रजनन बीज कहलाते हैं। मूल बीज उत्पादन चक्र की द्वितीय अवस्था है जिनका उत्पादन प्रजनन बीजों से अगली फसल लेकर की जाती है। भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकतक हरी खाद एवं पशुओं से प्राप्त खाद का प्रयोग होता है। विकासखण्ड बण्डा में उर्वरक का कुल वितरण 6850 मी० टन है। जिसमें से 5503 टन नाइट्रोजन, 881 मी० टन फास्फेट तथा 466 मी० टन पोटैश है। इसी प्रकार भूमि की उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिए उसमें खाद का प्रयोग आवश्यक है तथा उत्पादन को बढ़ाने के लिए उन्नतशील बीजों का प्रयोग किया जाता है। विकासखण्ड बण्डा में बीज गोदामों की संख्या 18 है एवं क्षमता 2100 मी० टन है जिनसे बीज लेकर कृषक लोग उपयोग करते हैं।

**फसल संरक्षण—**

फसलों में अधिकतर कीड़े लग जाते हैं जिसमें सारी की सारी फसल नष्ट हो जाती है, इसको बचाने के लिए कीटनाशक दवाओं का प्रयोग करना पड़ता है इसे प्रयोग से फसल पूरी नष्ट होने से बच जाती है। भूमि का फसलोत्पादन में दुरुपयोग ने किया जाये नहीं तो भूमि की सारी उर्वरा समाप्त हो जायेगी। अतः फसल लेने के साथ-साथ भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखने का प्रयास किया जाये, फसल के अनुरूप ही उसमें पानी दिया जाये। यदि पानी कम होगा तो फसल सूख जायेगी और अधिक हो जायेगा तो फसल सड़ जायेगी। उचित खाद का प्रयोग करें। फसलों का हेर-फेर करते रहे। उन्नत बीजों का प्रयोग हों तथा साथ ही साथ इनमें लगने वाले कीटों में बचाने के लिए समय-समय पर कीटनाशक दवाओं का छिड़काव करते रहना चाहिए। अतः फसल संरक्षण के लिए मानव को अत्यन्त सजग रहना चाहिए।

### भण्डारण सुविधायें—

कुछ फसलें ऐसी होती हैं जो ज्यादा दिन तब नहीं रखी जा सकती। वह खराब

हो जाती है। उन फसलों को खराब होने से बचाने के लिए उन्हें शीत गोदामों में रखने की व्यवस्था की जाती है, जिसमें वह सुरक्षित रखी रहती है। विकासखण्ड बण्डा में कोई भी शीत भण्डार नहीं है। अतः फसलोत्पादन अधिक होने से उनके रख-रखाव की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इस समस्या के निराकरण के लिए कृषकों के यहाँ से 47 किमी<sup>0</sup> दूर शाहजहाँपुर जाना पड़ता है। अतः उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए शीत भण्डार की सुविधा उपलब्ध करायी जायें जिससे कृषक को किसी भी प्रकार की हानि का सामना न करना पड़े।

### परिवहन—

यातायात या परिवहन के साधन वर्तमान युग में किसी भी देश के कृषि उद्योग एवं व्यापार सम्बन्धी विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक माने जाते हैं। कृषि के काम आने वाले यन्त्र बीज उर्वरक तथा अन्य वस्तुओं को कृषि के क्षेत्र तक पहुँचाने और कृषीय पदार्थों को दूर-दूर बाजारों तक ले जाने के लिए यातायात के साधनों का प्रयोग किया जाता है। केवल सामान

ही नहीं व्यक्तियों को उनके काम के स्थान तक ले जाना और वापस लाना भी यातायात के साधनों द्वारा ही होता है। इस प्रकार यातायात से सुविकसित साधनों के सहयोग से ही किसी क्षेत्र के प्राकृतिक साधनों और मानवीय शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग हो सकता है। इसलिए विकसित यातायात के साधनों को किसी क्षेत्र के आर्थिक विकास का सूचक माना जाता है। उपज को उपभोक्ता या खरीदार तक पहुँचाने के लिए यातायात के सुगम साधनों की आवश्यकता पड़ती है। उपर्युक्त सड़क, जल तथा रेल मार्ग के अभाव में उपज को उपभोक्ता तक नहीं पहुँचाया जा सकता। अतः ऐसे भागों में उत्पादन कम लाभकर सिद्ध होने लगता है। उदाहरणार्थ— शीघ्र सड़ने वाली उपजों के लिए तेज रफ्तार वाले यातायात साधनों की आवश्यकता होती है या लम्बी अवधि के लिए उनके संरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। मानव बहुत प्राचीन समय से ही पगडण्डियाँ और कच्ची सड़कों का प्रयोग करता चला आ रहा है। सड़क आज भी रेल मार्गों व जल मार्गों के मुकाबले अधिक प्रयोग की जाती है। सड़कों का प्रयोग



मानव, पशु द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियों, साइकिलें व मोटर गाड़ियाँ सभी करते हैं। सड़कों के विकास से कृषि उत्पादों का वितरण बेहतर हो जाता है और विभिन्न स्थानों पर उनके मूल्यों का अंतर कम हो जाता है। कम दूरी तक सामान और व्यक्तियों को ले जाने का यह एक कुशल और सस्ता साधन है।

यातायात शब्द का अभिप्राय प्रत्येक प्रकार के गमनागमन के पथ से होता है चाहे वह बैलगाड़ी के लिए कच्ची सड़क को अथवा पगडण्डी हो या किसी नगर को जाने वाली पक्की सड़क हो या फिर अन्तर्देशीय राजपथ हो। मकानों और मार्गों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और मानवीय सघन बस्तियों में वे और भी अधिक अन्तर्मिश्रित होते हैं। नगरों में नगरों को जोड़ने के लिए चौड़ी सड़कों का निर्माण होता है। परन्तु गाँवों की स्थिति सड़कों से दूर होती है। इसलिए ग्रामीण समाज को अपने गमनागमन और परिवहन के लिए स्वयं के श्रम से ही कच्चे रास्ते बनाने पड़ते हैं जो वर्षा ऋतु में खराब होने के बाद पुनः ठीक किये जाते हैं। मनुष्य उसकी विभिन्न

प्रकार की सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाने वाली इस परिवहन व्यवस्था का विकास क्षेत्र के प्राकृतिक भू-दृश्य संसाधन स्वरूप और मानव, राजनैतिक दशाओं और तत्जनित प्रादेशिक विविधता द्वारा हुआ है। परिवहन किसी भी देश की सभ्यता संस्कृति आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति का द्योतक है। यदि कृषि तथा उद्योग देश की अर्थव्यवस्था में शरीर में हड्डियों के समान है तो परिवहन के साधन भी शिराओं और धमनियों का कार्य करते हैं। भारत जैसे विकासशील कृषि प्रधान राष्ट्र में इनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि देश के आंतरिक भागों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए सड़क परिवहन सर्वाधिक उपयुक्त है। कृषि उत्पादों को नगरों तक विभिन्न नगरीय सुविधाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचाने तथा कृषि प्रधान क्षेत्रों के विकास और जीवन स्तर को ऊँचा उठाने हेतु परिवहन व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

विकास खण्ड बण्डा में पक्की सड़कों की लम्बाई 1991-92 में 95 किमी<sup>0</sup> है। पक्की सड़कों के अतिरिक्त कच्ची



सड़कों एवं पगडण्डियाँ भी हैं तथा लोक निर्माण विभाग द्वारा पक्की सड़कों की लम्बाई 91 किमी है। 1000 से कम जनसंख्या वाले गांव सड़कों से 21 किमी<sup>0</sup> जुड़े हैं। 1000 से 1499 तक जनसंख्या वाले भाग 7 किमी<sup>0</sup> जुड़े हैं तथा 1500 से अधिक जनसंख्या वाले गांव 9 किमी<sup>0</sup> तक पक्की सड़कों से जुड़े हैं।

### भूमि सुधार—

कृषि क्षेत्र में उत्पादकता सिर्फ भूमि कृषि आदानों की प्रवृत्ति पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि इस पर कृषक भूमिपति और भूमि के मध्य सम्बन्धों को भी प्रभाव पड़ता है अन्य शब्दों में कृषि उत्पादकता तकनीकी तथा संस्थानात्मक दो कारकों का प्रतिफल होता है। जहाँ तकनीकी कारकों में भूमि की उर्वरकता तथा उर्वरक उत्तम बीज, सिंचाई सुविधायें कृषि मशीनरी आदि शामिल हैं वहीं संस्थानात्मक कारकों में भूमिपति तथा काश्तकार के आपसी सम्बन्धों जोतों का आकार पट्टेदारी व्यवस्था आदि से सम्बन्धित तत्व आते हैं। इन संस्थानात्मक तत्वों का कृषि उत्पादकता पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि भूमिपति

और काश्तकार के सम्बन्ध मधुर न हो तो काश्तकार का भूमिपति द्वारा शोषण होता हो तो कृषक की भूमि पर कार्य करने की इच्छा एवं क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। फलतः कृषक की बचत एवं विनियोग की क्षमता घट जायेगी। इसका परिणाम कृषि क्षेत्र में निम्न उत्पादकता के रूप में दृष्टिगत होगा। अतः कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए संस्थानात्मक सुधार आवश्यक हैं। समाजवादी विचारधारा वाले लोग कृषि के पिछड़े पन के लिए समान्तवादी तथा अर्द्धसामन्तवादी सम्बन्धों को ही जिम्मेदार मानते हैं और भूमि सुधारों का ही उत्पादन बढ़ाने का मुख्य उपाय समझते हैं परन्तु पूँजीवादी विचारधारा के समर्थक तकनीकी विकास को ही कृषि उत्पादन बढ़ाने का एकमात्र कारण समझते हैं। अतः वे अधिकाधिक उर्वरक सिंचाई उन्नत बीज आदि का प्रयोग बढ़ाने पर बल देते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि दोनो ही मत अतिवादी हैं। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनीकी प्रगति के साथ-साथ संस्थानात्मक सुधार ही आवश्यक हैं। एक ओर कृषकों, भू-स्वामित्व प्रदान करके उसकी खेती करने और खेती में उत्पादन



बढ़ाने की इच्छा जाग्रत की जाती है। वहीं दूसरी ओर तकनीकी प्रगति द्वारा उसे खेती के नये औजार और उर्वरक प्रदान किये जाते हैं ताकि उसकी मेहनत से प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ सके। भू-सुधार के लाभ द्विआयामी है— एक ओर इसमें भूमि की गुणवत्ता अर्जित जोतों का आकार आदि में सुधार लाकर उत्पादन में वृद्धि की जाती है तो दूसरी ओर सम्पत्ति के गरीबों के बीच वितरण में सहायता मिलती है अर्थात् सामाजिक न्याय की प्रगति की दृष्टि से भूमि सुधार आवश्यक है। 1985 के कांग्रेस अधिवेशन में यह कहते हुए स्वीकार किया गया कि ग्रामीण जीवन को सुधारने की एक आधारभूत पद्धति है अर्थात् ग्रामीण की एक ऐसी प्रणाली प्रारम्भ करना जिसमें खेतों में काम करने वाला स्वयं स्वामी हो और वह बिना किसी जमींदार या तालुकादार की मध्यस्थता के स्वयं सरकार को लगान अदायगी करता रहे। इसी मूल अवधारणा से प्रेरित होकर स्वतंत्र भारत की सरकार ने भूमि सुधार सम्बन्धित अनेक कदम उठाये जैसे—

### 1. बिचौलियों का उन्मूलन।

2. भू-धारण सम्बन्धी सुधार अर्थात् लगान का नियंत्रण भू-धारण की सुरक्षा और काश्तकारों को भू-स्वामित्व प्रदान करना।

3. जेतों की उच्चतम तथा निम्नतम सीमा का निर्धारण तथा उच्चतम सीमा से अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों, कृषि मजदूरों तथा छोटे किसानों को वितरण।

4. कृषि का पुनर्गठन जिसमें जोतों की चकबन्दी और उनके विभाजन एवं उप-विभाजन को रोकना समाविष्ट है।

5. भूमि स्वामित्व के दस्तावेजों को आधुनिक बनाना तथा उनका रख-रखाव।

6. सहकारी खेती का गठन।

भूमि सुधार के सम्बन्ध में 9वीं योजना का दृष्टिकोण 9वीं योजना में भूमि सुधारों के निम्नलिखित तत्वों पर जोर देने की बात कही गयी है—

1. जेतों की सीमाबन्दी द्वारा उपलब्ध अतिरिक्त भूमि का पता लगाना तथा उनका पुर्नवितरण करना।

2. भूमि रिकार्डों का नियमित रूप से संशोधन व उसमें आवश्यक परिवर्तन।

3. काश्तकारों और बटाईदारों की सुरक्षा के लिए काश्तकारी सुधारों की उचित व्यवस्था।

4. चकबन्दी।

5. जनजातियों को उनकी भूमि से बेदखल करने पर रोक।

6. बेकार पड़ी भूमि को उनके साझे के आधार पर निर्धनों को प्रयोग की अनुमति।

7. सीमाबन्दी हदों के अंतर्गत भूमि को किराये पर लेने या किराये पर उठाने की अनुमति देना।

8. सीमाबन्दी द्वारा प्राप्त भूमि के पुर्नवितरण में स्त्रियों को प्राथमिकता देना तथा उनके अधिकारों की

सुरक्षा के लिए आवश्यक कानून बनाना।

### वित्तपोषण संस्थायें एवं सहकारी समितियाँ—

जब कृषकों को उसकी मेहनत के अनुरूप उत्पादन प्राप्त नहीं होता तो उसकी आर्थिक स्थिति कुछ बिगड़ जाती है। जिससे उसे दूसरी फसल के लिए कुछ धन की आवश्यकता होती है। धन को ऋण के रूप में दिलवाने की व्यवस्था इन संस्थाओं में होती है। सहकारी समितियों का विशेष भौगोलिक महत्त्व है जिससे उचित लागत में कृषकों को बीज, कृषियंत्र व उपकरण, खाद तथा उर्वरक की प्राप्ति हो जाती है। विकास खण्ड बण्डा में इन समितियों की संख्या 9 है। इसके अंतर्गत सदस्यों की संख्या 17104 है। इस समित में अंश पूँजी 23,98,000 रू0 है जिसमें कार्यशील पूँजी 19,05,600 रू0 है तथा जमा धनराशि 11,49,000 है। विकासखण्ड बण्डा में वर्ष में अल्पकालीन ऋण 32,147 है तथा समिति के अंतर्गत गांवों की संख्या 189 है। भूमि विकास बैंकों द्वारा वितरित दीर्घ कालीन ऋण 7,025 है तथा सहकारी विकास बैंक



की शाखाओं की संख्या 1 है। अतः कृषकों को उसके उत्पादन में पूरा सहयोग देने के लिए वित्तपोषक संस्थाएं एवं सहकारी समितियों की स्थापना की गयी है।

### सम्बन्धित उद्योग धन्धे—

भारत के औद्योगिक परिदृश्य में भारी विविधता दृष्टिगत होती है न केवल बड़े बल्कि लघु और कुटीर उद्योगों का पर्याप्त विकास हुआ है। उपभोक्ता वस्तुओं के साथ-साथ पूँजीगत वस्तुओं का भी देश में बड़े पैमाने के उद्योगों का आर्थिक विकास के लिए देश की योजनाओं में विशेष व्यवस्था की गयी है अर्थात् भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों की स्थापना वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में ही आरम्भ हो चुकी थी परन्तु उनका वास्तविक विकास स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात द्वितीय पंचवर्षीय योजना से ही पकड़ सका वास्तव में ब्रिटिश काल में भारत के अधिकांश बड़े उद्योग अंग्रेजों के हाथों में ही थे परन्तु धीरे-धीरे भारतीय उद्योगपतियों ने भी पूँजी एकत्रित करके कुद उद्योगों की स्थापना करना शुरू दिया है। विकास खण्ड बण्डा एक कृषि प्रधान क्षेत्र है। अतः कृषि पर ही आधारित

कुटीर उद्योग धन्धों की स्थापना की गयी है

क्योंकि उससे कच्चा पदार्थ कृषि द्वारा प्राप्त उपज से ही मिल जाता है। यह कारखाना अधिनियम 1948 के अंतर्गत पंजीकृत कारखाने हैं। इस विकासखण्ड में कार्यरत कारखानों की संख्या 12 है जिसमें से लगभग सभी कारखानों से लाभ प्राप्त हो रहा है। कारखानों में औसत दैनिक श्रमिकों एवं कर्मचारियों की संख्या 1268 है।

### सहकारी नीति एवं कार्यक्रम—

सहकारी नीतियों पर कृषि कार्य का विशेष प्रभाव पड़ता है एवं सीमित आयात के उद्देश्य से कोटा-सीमा पद्धति भी अपनायी जाती है। यदि फसलों से कृषकों को लाभ नहीं हो पाता (सूखा पड़ने से या किसी और कारण से) तो सहकारी नीति के अंतर्गत यह कार्यक्रम चलाया जाता है कि वह फसल का मूल्य निर्धारण करती है ताकि कृषकों को नुकसान का सामना न करना पड़े। इसके अंतर्गत अतिरिक्त कृषकों को पूरा सहयोग देने की भावना से यह कार्यक्रम चलाये गये हैं, जिससे कृषकों को बहुत लाभ होता है।



### REFERENCE

1. Reffered and Quated by Bhatia, S.S A New Measure of Agricultural Efficiency in U.P., India, Economics Geography, Vol. 43, No. 3 July 1967, P-245.
2. Bhatia, S.S A New Measure of Agricultural Efficiency in India, The Geographer, Vol XV, November, Special No. XXI, International Geographical Congress, P. 101-127.
3. Singh Jasbir (1972), A New Technique of Measuring Agricultural Productivity in Haryana (India), the Geographer, Vol. XIX, PP 14-33.
4. Sharma, B.L. (1978), Intensity of Crop Land and Productivity Bhoodharshan, Vol. XI, 3 Udaipur, PP 41-48.
5. Anderson, J.R. (1971), A Geography of Agricultural, Dubuque Law, P-106.
6. Tandon, R.K. Dhondyal, S.P. (1967), Principles and Methods of Form Management, P-60.



7. Singh, B.B., Agricultural Geography, P-128.

8. Ali, M. (1978), Studies in Agricultural Geography, Rajesh Pub. P-75.

9. Sharma, B.L., Agricultural Geography, P-127.

10. Enyedi, G.Y. (1964), Geographical types of Agricultural, Applied Geography in Hungry, Budapest.

11. Shafi, M. (1971), Measurement of Crop Productivity in India, Studies in Applied and Regional Geog., Edited by Shafi, M. and Raza, M. P.P. 97-113.

12. Hussain, Majid(1976), A New Approach to the Agricultural



Productivity region of the Sutlej-Ganga Plains of India, Geographical Review of India, Vol. 38, No. 3, PP, 2230-236.

13. Treirtha, G.T. (1953), The Case for Production Geography, Ann. Assoc. American Geographers, Vol. 43, PP. 71-97.

14. Jain, B.L. (1983), Apne Desh Ka Bhugool, P-277.

15. Singh, Dr. Kashinath (1984), Arthik Bhugool Ke Mooltatva, P-160.

16. Census of India, (1971, 81) (Published Data), Indian Ministry of Home Affairs.

17. Shankhikiya Patrika, Janpad Shahjahanpur, (1991), P 32-33.

-----